दुर्गासप्तशती और शक्तिभाष्य
का
तुलनात्मक विमर्श वाल्लभवेदान्ती दृष्टिकोणसे

एकस्यैवाद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
'सोऽकामयद्'इति श्रुत्या द्वेधात्मप्रविभक्तता ॥१॥
कामात्मातु पुमान् जातः रत्यात्मा स्त्रीरभूत्स्वयम् ॥
आत्मकामस्य काम्याऽऽत्मरतिस्तस्याभवत् पुनः ॥२॥
ब्रह्म तद्धचात्मकामो वै शक्तिमान् परमेश्वरः ॥
शक्तिस्त्वात्मरतिस्तद्दाम्पत्याद् अखिलं जगद् ॥३॥
नामरूपकर्मलीला सात्वेकस्याप्यनेकता ॥
स्वस्य द्वेधापादकं तद्ब्रह्मैक्यं धीमही परम् ॥४॥

(उपक्रम)

यद्यपि दर्शनोंकी अनेकविधताओंको लक्ष्यमें रखनेपर द्वैत या अद्वैत का विकल्प उतना प्रमुख लगता हो या न भी लगता हो. वेदान्त-दर्शनमें, परन्तु, द्वैत या अद्वैत का विकल्प अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है. क्योंकि वेदान्तदर्शनके विविध प्रस्थानोंकी पहचान ही द्वैत या अद्वैत सम्बन्धी आधारभूत अवधारणाके आधारपर भिन्न प्रस्थान होनेका अपरिहार्य निकष बन जाता है. तदनुसार शांकरवेदान्त केवलाद्वैतवाद, भास्करवेदान्त औपाधिकद्वैताद्वैतवाद, रामानुजवेदान्त विशिष्टाद्वैतवाद, माध्ववेदान्त द्वैतवादवाद. श्रीकरवेदान्त विशेषाद्वैतवाद, भिक्षुवेदान्त अविभागाद्वैतवाद और वाल्लभवेदान्त शुद्धाद्वैतवाद के रूपोंमें प्रसिद्ध हुवे हैं. इन वेदान्तप्रस्थानोंकी प्रसिद्धि द्वैत या अद्वैत के बारेमें उन्हें अभीष्ट विकल्पोंके आधारपर ही उपलब्ध होती है.

इन प्रसिद्ध प्रस्थानोंके अलावा एक अपेक्षाकृत अल्पप्रसिद्ध नूतन शाक्तवेदान्त भी है जो सरूपाद्वैतवादका पुरस्कर्ता है. यह चिन्तन औपाधिकद्वैताद्वैतवादके या शुद्धाद्वैतवादके प्रत्यासन्न है, यह प्रस्तुत आलेखका जिज्ञास्य विषय है.

इस सरूपाद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे : श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्यजी. इन्होंने ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य भगवद्गीताभाष्य दुर्गासप्तशतीभाष्य द्वैतोक्तिरत्नमाला तथा ईशावास्योपनिषद्-शक्तिभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ प्रकट किये हैं. ये विद्वद्वरेण्य भट्टाचार्य विगत शताब्दीमें आजसे करीब अस्सी वर्षपूर्व भट्टपल्ली ग्राम २४ परगना भाटपाड़ा बंगालके निवासी थे. इनके ग्रन्थोंका प्रकाशन श्रीजीव न्यायतीर्थने किया था. और इनके पास मेरे पिता गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज प्राचीनन्यायका कोई ग्रन्थ या विषय पढ़ने गये थे. तब इन ग्रन्थोंमेंसे दो-तीन ग्रन्थ मेरे पिताको इन्होंने दिये थे परन्तु दुर्भाग्यवश अब मेरे पास ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य केवल बच गया है. हालमें ही ईशावास्योपनिषद्शक्तिभाष्य और भगवद्गीताशक्तिभाष्य पुनः मिले पर अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाये. गीताभाष्य, परन्तु, प्रमुखतया साधनानिरूपणपरक है. श्रीजीव और श्रीपञ्चाननजी का आपसी नाता क्या था यह सुना तो था पर अब मुझे याद नहीं रहा.

इस भाष्यके मुखप्रबन्धमें ग्रन्थकार अपने मतका संक्षेप इन शब्दोंमें निरूपित करते हैं :

> "शाक्तवादो हि सरूपाद्वैतवादः चिदचिदुभयस्य स्वपर्याप्तया एकया सत्तया रूपेण समानतया तदनन्यत्वात् सर्वस्य प्रपञ्चस्य. ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तभूतस्य तत्सत्तावतः 'शक्त्या'ख्यब्रह्मणो निर्विशेषम् अपरोक्षज्ञानं तत्कृपयैव जायते. तत्कृपा च तदुपासनाविशेषापेक्षिणी... तदेतस्य सरूपाद्वैतवादस्य बादरायणीयसप्तशतीव्याख्याता श्रुतिः मूलम् 'अव्याकृता हि परमा प्रकृतिः त्वम् आद्या'-'चितिरूपेण या कृत्स्नम् एतद्व्याप्यं स्थिता जगद्'-'एकैव अहं जगति अत्र द्वितीया का ममापरा' इत्यादिका सा सप्तशतीस्मृतिः".
>
> (तत्रैव).

इस उद्धृत मतसंक्षेपके आधारपर इतना तो निःसन्देह स्फुट हो जाता है जड़-चेतन दोनों ही इस सरूपाद्वैतवादमें ब्रह्मात्मकतया मान्य हैं. एक अन्य स्थलपर भट्टाचार्यजी यह विधान भी करते हैं कि "ननु कारणात् कार्यस्य कार्यात् च कारणस्य अभेदो हि तयोः अनन्यत्वं भवति, प्रकृतेतु कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वं कार्यात् च कारणस्य अन्यत्वमिति भेदः प्रतिपादितपूर्वः, अन्यथा भेदाभेद-सिद्धान्त-भंगप्रसंगः" (शाक्तभाष्य २।१।१४) एतावता सरूपाद्वैतवादमें क्या भेदाभेद अभीष्ट है अथवा शुद्धाद्वैत? इसे सुनिर्धारित करना हो तो प्रस्तुत सरूपाद्वैतवादमें भेदका क्या स्वरूप माना गया है साथ ही साथ अभेदका क्या स्वरूप माना गया है, इसकी सूक्ष्मेक्षिकया विवेचना किये बिना सम्भव नहीं. और यहां तक पहुंचनेपर शुद्धाद्वैतवादमें इन भेद और अभेद को कैसे व्याख्यायित किया जाता है उसकी भी तुलनात्मक आलोचना अवसरप्राप्त होती है.

यद्यपि द्वैत हो या अद्वैत दोनों ही प्रत्यय प्रत्यक्षानुभूतिगम्य भी होते हैं और आनुमानिक भी परन्तु अनुयोगी-प्रतियोगीके सन्दर्भके बिना न द्वैत और न अद्वैत प्रत्यय ही चरितार्थ हो पाता है. अतः "तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृह.उप.८।९।२६) वचनके अनुसार जिज्ञास्य ब्रह्म, जैसाकि भगवत्पाद शंकराचार्य भी, "शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं न इन्द्रियादिप्रमाणकं तद् यथाशब्दम् अभ्युपगन्तव्यम्... तस्मात् शब्दमूलएव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः" (ब्र.सू.शां.भा.२।१।२७) स्वीकारते हैं, ब्रह्मके द्वैत या अद्वैत का विमर्श भी यथाशब्द श्रुतिवचनोंके आधारपर ही किया जाना चाहिये. अतः ब्रह्मके द्वैत और अद्वैत के प्रकारके बारेमें स्वयं उपनिषद्की धारणा क्या-कैसी है इसका आकलन करके ही आगे बढ़ना उचित होगा.

तदनुसार क्रमशः दिये जाते छान्दोग्योपनिषद् (६।२।१), बृहदारण्यकोपनिषद् (२।५।१५), श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।८) तथा छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३) के वचन अनिवार्यतया अवलोकनीय बन जाते हैं :

१.केवलाद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयं + इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते

(व्याख्या)

सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदात्यन्ताभावोपलक्षित + मायिकद्वैत

२.औपाधिकद्वैताद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयं + परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते

(व्याख्या)

कारणरूपका अद्वैत + शक्तिकार्यभूतोंका द्वैत

३.शुद्धाद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयं + तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय

(व्याख्या)

ब्रह्मस्वरूपका स्वाभाविक अद्वैत + नामरूपकर्म-जीव-नानात्वरूप ऐच्छिकद्वैत

इन श्रुतिवचनोंके लेखाजोखाके आधारपर यह स्पष्ट हो जाता है कि केवलाद्वैतवादमें द्वैत मायिक भ्रान्ति है तो औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें वह द्वैत शक्त्युपाधिक होनेपर भी वास्तविक है. इसी तरह शुद्धाद्वैतवादमें वही द्वैत स्वाभाविक भी नहीं और औपाधिक भी नहीं केवल ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के वशात् प्रकट होनेवाला ऐच्छिक है. ब्रह्मकी ही तरह सृष्टिप्रलयके पारमार्थिक चक्रमें आविर्भूत-तिरोहित होनेवाला स्वीकारा गया है. केवलाद्वैतवादमें द्वैत मायिक होनेके कारण पारमार्थिक ब्रह्मसे अत्यन्त विसदृश माना गया है. जबकि औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें शक्ति और शक्तिमान् ब्रह्म के बीच स्वाभाविकं भेदाभेद स्वीकारा गया होनेके कारण ब्राह्मिक अद्वैतके सन्दर्भमें शक्तिकार्यभूत प्रापञ्चिक द्वैत भी स्वाभाविक ही मानना पड़ेगा. क्योंकि ब्रह्मकी स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रियारूपा परा शक्ति और शक्तिमान् के बीच स्वाभाविक पार्थक्य न स्वीकारनेपर शक्तिओंके अपृथक्सिद्ध होनेके कारण भी ब्राह्मिकी शक्तिओंको उपाधि मानना ही अनावश्यक सिद्ध हो जायेगा. इस विषयमें भट्टाचार्यजीकी यह कण्ठोक्त घोषणा भी अविस्मरणीय है "यच्च द्वैतोक्तिरत्नमालाख्ये प्रकरणगन्थे ईशाद्युपनिषदां भावार्थो वर्णितो अस्माभिः तद् न्यायवैशेषिकनयस्य श्रुत्यविरुद्धताप्रदर्शनपरम्" (ईश.उप.शा.भा.उपक्रमे). एतावता न्यायवैशेषिकाभिमत भावाभावात्मिका जो पदार्थकी द्विविधता तदनुसार द्वैतको एकत्वात्यन्ताभावरूप मानना अथवा एकत्वप्रतियोगिक-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाभावानुयोगितारूप मानना ? शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तके अनुसार न तो द्वैत/भेद एकत्वका अत्यन्ताभावरूप होता है और न अद्वैत/अभेद भी द्वित्व या भेद का अत्यन्ताभावरूप होता है. महाप्रभु वल्लभाचार्यके अनुसार "भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्" (भाग.सुबो.१।५।२०) यही स्वरूप उसका स्वीकारा गया है. यहां महाप्रभु वल्लभाचार्यकी "अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्तीति तस्य भगवच्छक्तित्वाद्... शक्तिधर्माणामपि तदा उद्गतत्वाभावेन... किञ्च पश्चाद् अहं सर्वभवनसमर्थात् स्वरूपादेव चेष्टावत् प्रादुर्भावः... जडजीवात्मकं सर्वम् अहमेव इति अर्थो अयं मुख्यो ब्रह्मवादः" (सुबो.२।९।३२). अर्थात् भेद एकत्वात्यन्ताभावरूप न हो कर अनेकत्वविरोधसहिष्णु एकत्व है. इसे अनेक व्यक्तिओंमें एक सामान्य धर्म होनेकी अभेदसहिष्णु भिन्नता नहीं मान लेनी चाहिये प्रत्युत एकके ही अनेकभावापन्न हो पानेकी सहज सामर्थ्यरूपा यह भेदसहिष्णुता है. ब्रह्मकी [१] मूलतत्त्वात्मिका 'एकमेवाद्वितीय' होनेकी स्वाभाविकी स्वरूपावस्था, [२] मध्यमें ऐच्छिकी नामरूपकर्मात्मिका अनेकात्मिका सृष्टिरूपा कारण-कार्यभावापन्ना अवस्था और [३] अन्तमें प्रलयोत्तरकालिकी

पुनः तात्त्विकी 'एकमेवाद्वितीय'ता के निरूपणार्थ छान्दोग्य(६।२।२-३) बृहदारण्यक(१।६।३) और मुण्डक(३।७) उपनिषदोंके ये क्रमशः वचन यों देखे जा सकते हैं : [१] "सत्त्वेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्." [२] "तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्." [३] "परे अव्यये सर्वम् एकीभवति."

अतएव वाल्लभ वेदान्तके प्रमुख व्याख्याता गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी "यथा अमित्रो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धसम्पद् एवम् अभेदोऽपि न भेदो न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पद्" (भाव.प्रका.३।२।२८) यों अभेदघटक षड्विध नञर्थोंमें अभावार्थक न मान कर भिन्नार्थक होनेकी पृथक्ता प्रतिपादित करते हैं. इस सन्दर्भमें भास्करभाष्यगत "भेदाभेदयोः हि सर्वप्रमाणसिद्धत्वाद्" (भास्क.भा.२।१।१३) वचन अनुसन्धेय बन जाता है. अर्थात् औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें भेद और अभेद दोनोंको न केवल पारमार्थिक अपितु स्वाभाविक भी माना गया है. इसमें, परन्तु, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ऐसी स्थितिमें भेदको लोकप्रत्यक्षसिद्ध "घटो न पटः" के जैसा भेद मानना? या तार्किक/आनुमानिक "त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक" अभेदात्यन्ताभावरूप भेद मानना? कौनसे प्रकारका भेद श्रीभास्कराचार्यको अभिप्रेत है? स्पष्ट है कि यदि एककी अनेकताके रूपमें तादात्म्यघटित भेद लेते हैं तो शुद्धाद्वैतवादमें वह आपत्तिजनक नहीं रह जाता. अन्यथा एकमें अनेकत्वका आरोपरूप भेद माननेपर, उदा. "राहोः शिरम्" जैसा; अथवा तो, अनेक वृक्षोंमें समुदाय-एकत्वरूप अनारोपित अभेद माननेपर; अथवा तो, असंख्य ताराओंके पुञ्जरूप कृत्तिका नक्षत्रके पुञ्जमें दूरत्वोपाधिकृत एकतारूप भ्रमारोपित अभेद या एकत्व स्वीकारनेपर शुद्धाद्वैतवादमें वह निश्चय ही आपत्तिजनक बन जाता है.

बस इस सूक्ष्म तारतम्यको दृष्टिगत रख कर सरूपाद्वैतवादके अन्तर्गत अभ्युपगत भेदका स्वरूप मीमांस्य बन जाता है. और क्योंकि यह सरूपाद्वैत दुर्गासप्तशतीमूलक है, सो उस मौलिक सन्दर्भको भी विस्मृत किये बिना ही विचारणीय है.

वैसे तो वाल्लभ दर्शनमें अनेकानेक सिद्धान्त एवं वाद ऐसे हैं, जिन्हें 'प्राणभूत धारणायें' कहा जा सकता है. उदाहरणतया श्रीकृष्ण-परब्रह्मत्ववाद कृपामात्र-लभ्यत्ववाद जीवाणुत्ववाद इत्यादि इन वादोंकी महत्ता जरा भी न्यून करते ही वाल्लभ दर्शन निष्प्राण हो जायेगा. फिरभी यहां हम इनकी गणना नहीं करना चाहते हैं. क्योंकि इनकी महत्ता वाल्लभ दर्शनमें है, परन्तु शुद्धाद्वैतवादमें नहीं. वेदान्तके अनेक प्रस्थानोंमें एक वैष्णव सम्प्रदाय होनेके कारण महाप्रभुके चिन्तनमें श्रीकृष्णको परब्रह्म मानना एक प्रमुखतम सिद्धान्त है. परन्तु वेदान्तमें शैव सम्प्रदायी यदि शिवको परमतत्त्व मानते हों तो वह कोई ऐसा अपराध नहीं है कि वे शिवाद्वैती नहीं हो सकते. काश्मीर शैवदर्शन, हमारे हिसाबसे, शुद्धाद्वैतवादी था और इसी तरह कर्नाटकका शैववेदान्त भी काफी अंशोंमे. अतः समग्र वाल्लभ दर्शन एवं शुद्धाद्वैतवाद को थोड़ा पृथक्तया निहारनेपर ही हमारी बात समझमें आ पायेगी. जैसे श्रीरामानुजाचार्य वैष्णव हैं और श्रीकण्ठ शैव, परन्तु हैं दोनों विशिष्टाद्वैती ही.

यह वाल्लभ मत और शुद्धाद्वैतवाद की पृथक्ता जगत् और ब्रह्म की पृथक्ताकी तरह ऐच्छिक द्वैतरूपा है, स्वाभाविक अद्वैत होनेपर भी! अस्तु!

शुद्धाद्वैतवादके अन्तर्गत महाप्रभु, हमारी समझके अनुसार, कुल नौ वादोंकी विवक्षा रखना चाहेंगे. इन वादोंके कारण जो कुछ सिद्ध होता है वही महाप्रभुको शुद्धाद्वैतकी स्थापनाद्वारा सिद्ध करना अभीष्ट है. तथा इन नौ वादोंमेंसे जो भी वेदान्ती जितने अधिक वादोंको स्वीकृति प्रदान करता है, वह उतना पक्का शुद्धाद्वैती है. जो जितने कम वादोंको स्वीकृति देता हो, उतने अंशमें उस वेदान्तीके शुद्धाद्वैती दृष्टिकोणमें कुछ न्यूनता स्वीकारनी पड़ेगी. क्योंकि ये महाप्रभुका स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हैं अतः इनके श्रौतसन्दर्भ तथा महाप्रभु के निष्कर्षरूप वचनोंके भी विन्यासपूर्वक विमर्ष आवश्यक है.

(१) ब्रह्मवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म (तैत्ति.उप.२।१)

(ख) : यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्तीति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति.उप.३।१).

(ग) : किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु? मनीषिणो! मनसा पृच्छतेदुः तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्? (ऋक्संहि.१०।८१।४). ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु! मनीषिणो! मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन! (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७७).

(घ) : सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छान्दो.उप.३।१४।१).

वाल्लभ निष्कर्ष : आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरति ईश्वरः, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा, इति श्रुत्यर्थम् आदाय साध्यं सर्वैः यथामतिः, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितः(त.दी.नि.२।१८३-१८४).

(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : अणोरणीयान् महतो महीयान्...आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः(कठोप.१।३।२०-२१).

(ख) : यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम् (महाना.उप.१।५).

(ग) : बृहच्च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच् च तत् सूक्ष्मतरं विभाति, दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च पश्यत्सु इहैव निहितं गुहायाम् (मुण्ड.उप.३।१।७).

(घ) : यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्रावीशत् तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवद्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, सत्यम् अभवत् (तैत्ति.उप.३।६).

(ङ) : द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यंच अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यत् च (छान्दो.उप.२।३।१).

(च) : भीषा अस्माद् वातः पवते भीषा उदेति सूर्यः भीषा अस्माद् अग्निः च इन्द्रः च मृत्युः धावति पञ्चमः इति सा एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्ति.उप.३।८).

(छ) : नैनेन किञ्चन अनावृतं नैनेन किञ्चन असंवृतं...रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताहि अस्य हरयः शता दश इति, अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च (बृह.उप.२।५।१८-१९).

(ज) : पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते (बृह.उप.१।१।१).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेका प्रमुख तात्पर्य यही है कि ब्रह्म क्या-कैसा है इसके बारेमें हम किसी तरहकी उत्प्रेक्षा न करें. प्रत्युत श्रुतिमें जैसा स्वरूप ब्रह्मका वर्णित हुआ है उसे स्वीकार लें. यदि श्रुतिके एक ही वाक्यमें या दो विभिन्न वाक्योंमें, हमें लौकिक बुद्धिवश, परस्पर विरोधी धर्मोंका निरूपण होता प्रतीत हो रहा हो, तो हमें स्वीकार लेना चाहिये कि श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वैसे परस्पर विरोधी गुण हैं. क्योंकि ब्रह्म शास्त्रेतर किसी प्रमाणसे गम्य तो है नहीं. अतः सम्भव है कि लौकिक प्रमाणोंके वश परस्पर विरोधी लगनेवाले गुण-धर्मोंके भी ब्रह्ममें आश्रित होनेपर पारस्परिक विरोधका उपशम हो जाता होगा. जैसे एक ही बीजसे उद्भव होनेपर भी वृक्षके पत्र एवं फल में परस्पर विरोधी कटु और मधुर स्वाद रह सकते हैं. अतः श्रुतिके किसी वाक्यके अर्थको लोकवत् उत्प्रेक्षाके वश बाधितार्थविषयक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि ब्रह्म शब्दैकगम्य है. अतः अलौकिकत्वेन मान्य किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ लौकिक प्रमाण अथवा तन्मूलक तर्क द्वारा बाधित हो नहीं सकता. शब्दको बाधितार्थविषयक माने बिना गौणी या लक्षणावृत्ति का सहारा लेनेकी आवश्यकता भी पड़ नहीं सकती. अतः परस्पर विरोधाभासी श्रुतिवचनोंकी विरुद्धार्थकता जहां तक तात्पर्यविषयीभूत विरुद्धधर्माश्रयताकी धारणासे उपपन्न हो पाती हो, तब तक तात्पर्यको लौकिक प्रमाणाश्रित तर्कोका अवलम्बन कर अनुपपन्न क्यों मानना चाहिये ?

अतएव महाप्रभु कहते हैं : नहि स्वबुद्धचा वेदार्थ परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः, ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्, अणुमात्र अन्यथा कल्पनेऽपि दोषः स्याद्, नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थ विचारः उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतरनिर्धारस्य अशक्यत्वात् . अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावात् च (वाल्लभ भाष्य १।१।१।).

(३) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्...तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते (मुण्डकोप.१।१।७-९).

(ख) : सत्त्वेव सोम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति (छान्दो.उप.६।२।३).

(ग) : यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्नेः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृह.उप.२।१।२०).

(घ) : तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत (तैत्ति.उप.२।७).

वाल्लभ निष्कर्ष : नामरूपकर्मात्मक इस जगत्की उत्पत्तिमें उपादानकारण निमित्तकारण तथा कर्ता सभी कुछ केवल बह्म ही है. एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अलावा अन्य कोई न तो जगत्का उपादानकारण न निमित्तकारण और न कर्ता ही हो सकता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं : जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकं कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेपि क्वचित् सुखं. यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः (त.दी.नि.१।६८-६९).

(४) सत्कारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः, सौम्य!, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छान्दो.उप.६।८।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्म यदि एकमेव और अद्वितीय सत् है और वही इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है, तो जगत्का आर्विभाव सत्कारणक ही हठात् मानना पड़ेगा. सत्कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है असत्कारणसे नहीं. असद्वस्तु कारणता-धर्मका निर्वाहक नहीं बन सकती. अतएव महाप्रभु कहते हैं : नापि असतः सत्तारूपः (त.दी.नि.प्र.१।२३).

(५) सत्कार्यवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सत्त्वेव सोम्य इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम् कथम् असतः सद् जायेत? (छान्दो.उप.६।२।१-२).

वाल्लभ निष्कर्ष : श्रुतिमें इदंकारसे निर्दिष्ट इस प्रत्यक्ष जगत्के स्वयंके प्रादुर्भावसे पूर्व भी केवल सत् ही होनेके वर्णनसे; तथा असत् होता तो उस असत्तासे जगत्का सदात्मना प्रादुर्भाव कैसे शक्य बनता? इस युक्तिसे भी सत्कार्यवाद अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्यरूप नामरूपकर्मात्मक जगत्की सत्ता उपादानकारणात्मना सिद्ध हो जाती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं : 'असद्वा इदम् अग्रे आसीद्' इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेद् न अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः. कुतः वाक्यशेषात्. 'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्. 'इदम् आसीत्' पदप्रयोगात् च (अणुभाष्य २।१।१७).

(६) आविर्भावतिरोभाववाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौ नामायम् इदं रूपमिति (बृह.उप.१।४।७).

वाल्लभ निष्कर्ष : अपनी अव्याकृत अर्थात् उपादानकारणावस्थामें तथा नामरूपकर्मात्मना व्याकृत कार्यावस्थामें भी जब जगत् सत् ही हो, श्रुतिके अनुसार, तब तो प्रतीयमान उत्पत्ति-विनाश और आत्यन्तिक भेद हमारी केवल कल्पनामात्र सिद्ध हो जायेंगे. देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छेदकी, अथवा नैयायिकोंकी भाषामें कहें तो चतुर्विध अभावोंकी, प्रतीतिका आधार तत्तद् देशमें कालमें तथा तत्तद्रूपेण किसी एक वस्तुका तिरोभूत होना ही है. जिस वस्तुकी जब और जहां जैसी प्रतीति या कार्यकारिता है, वहां तब उसे उस रूपमें आविर्भूत मानना पड़ेगा अन्यथा तिरोहित. यही बात महाप्रभु समझाते हैं : आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः... सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हेरः वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवति अजः, मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छातः तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हेरः तथा, तिरोभावः तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः (त.दी.नि.२।१४०-१४२).

(७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं 'मृतिका' इत्येव सत्यम् (छान्दो.उप.६।१।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : कार्यको कारणका 'विकार' कहना वाचारम्भण (विवक्षाप्रयुक्त नामान्तरकी अर्थात् कहनेभरकी बात) है. क्योंकि मृत्तिकासे बने घटका यथार्थ नाम तो 'मृत्तिका' ही होता है. उपादानकारणके किसी आकारविशेषमें परिणत हो जानेपर भी, यदि मूलतत्त्वके स्वरूपमें कोई विकृति या अन्यथाभाव नहीं आता तो, ऐसा परिणाम "अविकृत(कारणका)-परिणाम(कार्यात्मना अवस्थान)" कहा जाता है. उदाहरणतया आभूषण या घड़ा बन जानेपर सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है और मृत्तिका तो मृत्तिका ही. इस उदाहरणमें नूतन आकृति, अक्रियाकारिता तथा कुछ गुणधर्मोंमें अन्यथाभाव तो प्रत्यक्षसिद्ध है परन्तु साथ ही साथ तत्त्व भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है. अन्यथा सुवर्णका चोर कोई अन्य मानना पड़ेगा और सुवर्णनिर्मित आभूषणोंका चोर कोई अन्य! आभूषणार्थी केवल सुवर्णका ग्रहण कदाचित् न भी करें परन्तु सुवर्णार्थी सुवर्णके आभूषण और अव्यवस्थिताकारवाले सुवर्णखण्डमें कोई भेददृष्टि नहीं रखता. इसी तरह जागतिक विषयार्थी ब्रह्मकी उपेक्षा कर सकता है परन्तु ब्रह्मदर्शीके लिये जगतके सभी विषय ब्रह्म है. क्योंकि नाम रूप एवं कर्मों में परिणत होनेपर भी ब्रह्म निजसत्तासे प्रच्युत नहीं होता है. अतएव सभी कुछ यहां ब्रह्म है. क्योंकि सभी कुछ एक ब्रह्मके अविकृत स्वरूपका ही परिणाम है. महाप्रभुने यह बात इसी तरह समझायी है : तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुतेति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्...तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह परिणामात् परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव सुवर्ण, सर्वाणि च तैजसानि. बुद्धेश्च अलौकिकत्वाद्, ब्रह्मकारणत्वएव घटते. पूर्वस्य अन्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधाद् अंगीकर्तव्यः, वक्ष्यति च श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद् इति (वाल्लभ भाष्य.१।४।२६).

(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशाशितादात्म्यवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : त्रयं वा इदं नाम रूप कर्म. ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम् (बृह.उप.१।६।३).

(ख) : सय एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि (छान्दो.उप.६।९।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : नाम-रूप-कर्मात्मक जड़वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सदंशभूत हैं क्योकि चिदंश और आनन्दांश उनमें अप्रकट-तिरोहिततया रहते हैं. जीवात्मा ब्रह्मका चिदंश है. अनुक्तसिद्ध होनेसे इसमें सत्ता या सदंशता उल्लेखनीय नहीं है. चैतन्यकी प्रधानताके कारण भी सत्ता उल्लेखनीय नहीं है. फिरभी आनन्दांश जीवात्मामें तिरोहित रहता है. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश, जब तत्तत् नाम-रूप-कर्मके साथ व्यक्त होते हैं, तो ब्रह्म और ब्रह्मके सदंशो के बीच, कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य रहता है, जैसा सुवर्ण और उससे बने आभूषणों के बीच रहता है. इसके विपरीत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूप जीवात्मायें, जब किसी भी प्रकारके व्यक्त एवं निश्चित नाम-रूपोंके बिना ही अंशात्मना ब्रह्ममें से व्युच्चरित होती हैं. तो उन्हे कार्यतया सिद्ध कर पाये ऐसा कोई गुणधर्म उनमें प्रकट नहीं होता

है. अतएव जीवात्माको शास्त्रमें 'अज-अमर' कहा गया है. अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य न होनेपर भी अंशांशिभावात्मक तादात्म्य रहता है. जैसा समुद्र और उसकी लहरों के बीच पहचाना जा सकता है. अथवा जैसे पारेको उंगलीसे दबानेपर उसमें से झीने-झीने बिन्दु अनेक परिमाणवाले चारों ओर बिखर जाते हैं. ये झीने-झीने बिन्दु पारेके केवल विभाजित अंश होते हैं रूपान्तरण नामान्तरण रूपी कार्य नहीं. और मिला देनेपर दुबारा अंशीके साथ अखंडित एकीभावापन्न हो जाते हैं. वैसे तो जड़ नाम-रूपोंमें भी सदंशता तो है ही, फिर भी ''प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'' नियमके अनुसार कार्यत्वरूप धर्म सदंशमें प्रधानतया व्यक्त होता है, नियत नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके रूपमें! अतः उन्हें 'कार्य' कहा जाता है. जबकि जीवात्माको केवल 'अंश' ही. दोनों ही ब्रह्मके साथ तादात्म्य रखते हैं. क्योंकि एक उपादानोपादेयभाववश तदात्मक है और दूसरा अंशाशिभाववश तदात्मक है. अन्यत्र परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच धर्मधर्मिभावमूलक तादात्म्य भी सम्भव है. इस तरह तादात्म्य भी अनेकविध सम्बन्धोंमें सम्भव है.

महाप्रभु कहते है : ''द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः. भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिंगन्यायेन एका, अपरा वियदादिक्रमेण, साच अनामरूपात्मनो नामरूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सा जड़स्यैव कार्यत्वात्. तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः, अनित्ये (जड़े) जननं, नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकट्यं च इति सा त्रिधा'' (वाल्लभ भाष्य.२।३।१) तथा ''यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः' - 'पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति. नतु स्वरूपतोऽपि घटपटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते इति अर्थः.'' (त.दी.नि.प्र.१।९१).

(९) लीलार्थ सृष्टिवाद

श्रौतसन्दर्भ

(क) : स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत् स ह एतावान् आस्. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत् ततः पतिः च पत्नी च अभवताम् (बृह.उप.१।४।३).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्म अगणितानन्दरूप होनेसे किसी भी प्रयोजनके वश सृष्टि नहीं करता है. निष्प्रयोजन सर्वथा एक लीलाके रूपमें अपने निजानन्दकी सहज अभिव्यक्तिके रूपमें ही सृष्टि प्रकट करता है. सूत्रकार भी अतएव कहते हैं ''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''(ब्र.सू.२।१।३३) महाप्रभु भी, अतएव, लीलार्थ सृष्टिवादका स्वरूप इन शब्दोंमें देते हैं : नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः. (त.दी.नि.१।१).

शुद्धाद्वैतका जो स्वरूप वाल्लभ दर्शनमें अभिलषित है, उसे समझनेके लिये ये वाद अनिवार्य आधारभूत धारणायें हैं. इन्हे भलीभांति समझनेपर ही शुद्धाद्वैतवादका सांगोपांग बोध सम्भव है.

'शुद्ध' तथा 'अद्वैत' पदोंके समाससे निष्पन्न 'शुद्धाद्वैत' पदका स्वारस्य इन्हीं नौ वादोंमें भरा हुवा है. परन्तु समासविग्रह करनेके बाद 'शुद्ध' या 'अद्वैत' पद का पृथक्-पृथक् तात्पर्य जानना हो तो महाप्रभुके तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(१।२३)के आधारपर यों समझा जा सकता

है : ['शुद्ध'+'अद्वैत'=]"अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो नापि परमाणुजन्यो नापि विवर्तात्मा नापि अदृष्टादिद्वारा जातो नाप्यसतः सत्तारूपः (+) किन्तु परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपः".

(दुर्गासप्तशतीका तुलनात्मक विमर्श)

जैसा कि सूचित कर चुके हैं कि मेरे दुर्भाग्यवश भट्टाचार्यजीका दुर्गासप्तशतीभाष्य अब उपलब्ध नहीं हो पाया अतः मूल दुर्गासप्तशतीका सैद्धान्तिक विमर्श मुझे अपनी मतिके अनुसार करने विवश होना पड़ रहा है.

शुद्धाद्वैतवादके घटक नौ अंगभूत वादोंके निकषपर दुर्गासप्तशतीके जो शक्तिकी स्तुतिके रूपमें उद्‌गार प्रकट हुवे हैं उन्हें स्तुत्यर्थवाद न मान कर ब्राह्मिकी शक्तिके यथार्थ स्वरूपका अभिधान स्वीकार चलें तो उन तत्तत् स्तुत्यंशोंको उल्लिखित नौ वादोंमेंसे किस-किस वादके साथ समायोजित करना चाहिये उसका यथामति प्रतिपादन अभिलषित हैं. जैसेकि सर्वप्रथम -

[१]ब्रह्मवाद अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी हो नहीं सकता और जो कुछ है वह एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके विविध नाम रूप या कर्म हैं यह दुर्गासप्तशती, जिसे भट्टाचार्यजीने भी उद्धृत किया ही है, "एकैव अहं जगति अत्र द्वितीया का ममापरा" (दु.स.श.१०।१) यह सुस्पष्टतया देवीके ब्रह्म होनेका ही वर्णन है. इस सिद्धान्तोक्तिके निगमनार्थ पञ्चमाध्यायमें सर्वभूतोंमें देवीका विभिन्न रूपोंमें अवस्थान प्रतिपादित हुवा है. जिसे वस्तुमात्रके उपलक्षणतया निदर्शनार्थ अन्तःकरणवृत्तिरूपा चेतना बुद्धि निद्रा क्षुधा छाया शक्ति तृष्णा क्षान्ति जाति या ब्राह्मिकी सत्ता लज्जा शान्ति श्रद्धा कान्ति लक्ष्मी आजीविका स्मृति दया तुष्टि प्रमातृता भ्रान्ति इन्द्रियाधिष्ठातृता चिति अर्थात् निर्विषयिका आत्मचेतना यों वस्तुमात्र एक देवीके ही अनेक रूप हैं यह दरसाया गया है.

[२]विरुद्धधर्माश्रयतावाद यदि इन स्तुतिओंमें खोजना हो तो चतुर्थाध्यायके "या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेषु (विरुद्धधर्म) अलक्ष्मी पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः (वि.ध.) श्रद्धा सतां, कुलजनप्रभवस्य लज्जा (वि.ध. उपलक्षणतया : अकुलीनजनस्य निर्लज्जता अपि)" (तत्रैव ४।४) वचनमें मिलता ही है.

[३]अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादका अंगीकार प्रथमाध्याय और एकादशाध्याय के श्लोकोंमें सुस्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है "विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीं"-"कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी विश्वस्य उपरतौ"-"त्वं वैष्णवी शक्तिः अनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमा असि माया संमोहितं देवि! समस्तम् एतत्"-"हरिनेत्रकृतालयां... निद्रां भगवतीं विष्णोः" (प्रथ.५३, एका.८,४. प्रथ.५२-५३) जगद्रूपवृक्षकी उत्पत्तिमें कर्त्रीरूपा तथा समवायिकारणभूता बीजरूपता, स्थितिमें षड्भावविकाररूपा कालादिकृत परिणामशालितया संमोहकता, अन्तमें प्रलयशेषशायी नारायणनेत्राधिष्ठिततया विश्वोपरमशेषता निरूपण उल्लेखनीय है.

[४]सत्कारणतावाद, यद्यपि, सप्तशतीमें शब्दशः साक्षाद् न भी दृष्टिगोचर होता हो परन्तु अर्थापत्तिलब्ध तो माना जा सकता है.

[५] सत्कार्यतावादकी भी लगभग वही कथा है जो सत्कारणतावादकी कही गयी. परन्तु यहां सांख्यसिद्धान्तानुगुणा जगत्की परिणामवादानुसारिणी उत्पत्ति स्वीकारनी या न्याय-वैशेषिक मतके अनुगुणा आरम्भवादानुसारिणी उत्पत्ति? यह दुर्गासप्तशतीकी स्तुतिओंमें प्रयुक्त पदावलियोंके आधारपर सुनिर्धारित कर पाना कुछ कठिन लगता है. श्रीपञ्चाननजीके भाष्यमें निश्चयेन नैयायिक-वैशेषिक मतके अनुरोधवश सत्ताके नित्य और अनित्य प्रभेद मान कर आरम्भवादीया प्रक्रियाका समाश्रयण किया गया होना अनिवार्य प्रतीत होता है. फिरभी "नित्यैव सा जगन्मूर्तिः तया सर्वम् इदं ततं... देवानां कार्यसिद्धचर्थम् आविर्भवति सा यदा उत्पन्ना इति तदा लोके सा नित्यापि अभिधीयते" (दु.स.श.१।४७-४८) वचनका विश्लेषण करनेपर जगन्मूर्ति देवीको नित्या होनेके रूपमें बिरदाना, जगद्व्यापिनी मानना, तथा नित्या ही होनेपर भी आविर्भाव और तिरोभाव के वश उत्पन्न या अनुत्पन्न लगनेकी उपपत्ति देना तो सांख्यप्रक्रियाका ही अनुसरण लगता है. जगत्में व्याप्तिके भी, वैसे तो, दोनों ही प्रकार सोचे जा सकते हैं : १.जगदात्मना परिणत होनेके कारण देवी जगन्मूर्ति है. जगत्के समवायी या उपादान कारणकी सत्ता ही कार्यसत्तात्मना पुनः अभिव्यक्त होती है इसलिये देवी जगन्मूर्ति है. २.चिकीर्षित तत्त्वोंको उत्पन्न करती है अर्थात् प्रागभाव मिटा कर उत्पन्न करती है. ऐसी वह देवी विभु होनेके कारण जगत्के समवायिकारणोत्पन्न कार्यदेश और कार्यकाल में विद्यमान भी रहती मानी जा सकती है. कार्यभूत जगत्, परन्तु, विभु न होनेके कारण, अर्थात् देवीसदृश अपरिच्छिन्नताके अभाववश, देवीसे व्याप्त ही रहता है. और इस तरह देवीको जगन्मूर्ति सोचना देवीमें उत्पादित मूर्त जगत्का प्रागभाव और अन्योन्याभाव दोनोंकी स्वीकृतिमें पर्यवसित हो जायेगा. पर तब देवी नित्य होनेपर भी सर्वदा जगन्मूर्ति तो मानी नहीं जा सकती.

इतनी उपपत्ति सत्कार्यवाददृष्ट्या सोची जा सकती है, कहीं भी कण्ठोक्त न होनेपर भी.

[६] आविर्भाव-तिरोभाववादका प्रश्न भी इस तरह समाहित हो पाता है, क्योंकि अमूर्त देवीका स्वयं जगन्मूर्त्यात्मना परिणत होना 'नित्या जगन्मूर्तिता' हो तो आविर्भावतिरोभाववाद अनुक्तसिद्ध हो जाता है. अन्यथा आरम्भवादी प्रक्रियाके अनुसार मूर्त जगत्को देवी अपनी अपरिच्छिन्नतामें निर्मित करती हो तो देवीको 'नित्या जगन्मूर्ति' मानना दुर्बोध्य बन जायेगा.

[७] अविकृतस्वरूपपरिणामवादका प्रतिपादन तो "हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषैः न ज्ञायसे हरिहरादिभिर् अपि अपारा, सर्वाश्रया अखिलम् इदं जगद् अंशभूतम् अव्याकृता हि परमा प्रकृतिः त्वम् आद्या" (दु.स.श.४।६) इस वचनमें निरपवाद सिद्ध हो ही रहा है "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्यक्रियते" (बृह.उप.१।४।७) श्रुतिवचनके साथ संवादके आधारपर.

[८] कार्यकारणतादात्म्यवाद और अंशांशितादात्म्यवाद को भी सप्तशतीमें खोजना हो तो इन स्तुतिपदावलियोंमें खोजे जा सकते हैं "त्वया एतद् धार्यते विश्वं त्वया एतत् सृज्यते जगत् त्वया एतत् पाल्यते, देवि!, त्वम् अत्सि अन्ते च सर्वदा. विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने तथा संहृतिरूपा अन्ते जगतो अस्य जगन्मये", "सा विद्या अपरमा("परा उत्कृष्टा मा मोक्षलक्ष्मीः ततो अन्या अपरमा" : शान्तनवी) मुक्तेः हेतुभूता सनातनी संसारबन्धहेतुः च सैव सर्वेश्वरेश्वरी... त्वं श्रीः त्वम् ईश्वरी त्वं ह्रीः त्वं बुद्धिः बोधलक्षणा लज्जा पुष्टिः तथा तुष्टिः त्वं शान्तिः क्षान्तिर् एव च" (दु.स.श.१।५६-५७, १।४४-६६) यहां देखा जा सकता है कि जगत्की धारिका निर्मात्री पालिका और अन्तमें भक्षिका ही नही प्रत्युत स्वयं देवी सृष्टिस्थितिसंहृतिरूपा भी मानी गयी है. अतः यह तो भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यके बिना सम्भव नहीं हो पायेगा. चितिरूपा देवी चेतनाके बन्ध

अथवा मोक्ष दोनोंमें हेतुभूत है मोहरूपा और विद्यारूपा भी, यदि यह स्तुत्यर्थ उपचार न माना जाता हो तो, कोई मुक्त होती चेतना और कोई मोहबन्धनवश मुक्तिभाजन न बन पाती चेतनासे भी देवीके तादात्म्यके अंगीकार बिना कल्पनीय ही नहीं रह पायेगा.

[९] लीलार्थसृष्टिवाद, परन्तु, इस दुर्गासप्तशतीके सावधानतया विमर्श करनेपर यह अतिरोहित नहीं रहता कि यहां लीलाके रूपमें न तो देवीके और न सृष्टिके ही प्राकट्यकी कथा अभिप्रेत है. शुद्धाद्वैतवेदान्तमें 'लीला'की परिभाषा महाप्रभु वल्लभाचार्य "कौतुकाधिष्ठितेन अनायासेन क्रियमाणं कर्म लीला"/"अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला" (सुबो.१।१।४-१७) इस तरह मान्य करते हैं. प्रस्तुत ग्रन्थमें देवीके प्रकट होनेकी कथा न तो कौतुकवशात् अनायासेन क्रियमाण कर्मके रूपमें वर्णित हुयी है और न अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टाके रूपमें. जगत्के कर्ता पालक और संहर्ता के योगमायावशात् निद्राधीन हो जानेके कारण मधुकैटभ दैत्य ब्रह्माजीका वध करने ही उद्यत हो गये थे. तब ब्रह्माजीने हरिनेत्रकृतालया देवीको जगाया कि वह विष्णुको जगा पाये और मधुकैटभसे ब्रह्माकी रक्षा कर पायें. देवीके हरिनेत्रोंको मुक्त करनेपर, हरिने जाग कर दैत्योंके साथ युद्ध भी किया. दैत्य, परन्तु, समाप्त न हो पाये. सो देवीने प्रकट हो कर बड़े संग्रामके बाद उनका लीलया वध किया. इस महान् कर्मके आनुषंगिकतया अनेक स्तुतियां जो देवीकी की गयी वे यहां संकलित हैं. यद्यपि यहां 'लीला'का उल्लेख मिलता है पर यह तो दैत्यवध किसी भी आयासके बिना किये गये होनेके अभिप्रायवश है. नकि वधकर्म स्वयं एक लीला है ऐसे अभिप्रायवश.

वैसे वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणसे इस देवीके उपाख्यानको निहारनेपर ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों ही परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रजःसत्त्वतमोगुणाभिमानी गुणावतार हैं "यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो रजः सृजति एषः पृथक् स्वमायया सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुः ईश्वरः शयिष्यमाणः तमः ईरयति असौ", "सत्त्वं रजः तम इति प्रकृतेः गुणाः तैः युक्तः परः पुरुषः एक इह अस्य धत्ते 'हरिविरिञ्चिहर' इति संज्ञाः", "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति" (भाग.पुरा.७।१।१०, १।२।२४, तैत्ति.उप.३।१) इन भागवत और उपनिषद् वचनोंके आधारपर, परब्रह्मकी त्रिवृत् शक्तियोंके मूर्तिमान् रूप. स्वाभाविकतया तीन रूपोंमें विभक्त तीन शक्तियोंकी तुलनामें अविभक्त परब्रह्मकी एक अविभक्तशक्ति कुछ अधिक ही होगी. परन्तु दुर्गासप्तशती उस अविभक्त परब्रह्मसे भी अधिक उसकी शक्तिके माहात्म्यवर्णनार्थ है. यहां आकर शाक्त प्रस्थान और वैष्णव प्रस्थान का पार्थक्य प्रकट हो जाता है, बहुत सारे शुद्धाद्वैतवादावलम्बनके न्यूनाधिक सामान्य स्वरूपके अलावा. और अधिकाधिक इस विषयमें, शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोणसे कुछ कहना हो तो, यही कहा जा सकता है "एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते... तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति" (मुद्ग.उप.३). शाक्तमार्गमें परम आद्या शक्तिद्वारा शक्तिमान्का उद्बोधन लीलात्मक हो या न हो, वैष्णव मार्गमें भागवतमहापुराण इस उद्बोधनका वर्णन निश्चित ही लीलारूपेण करता है :

> "स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभिः तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम्. यथा शयानं सम्राजं बन्दिनः तत्पराक्रमैः प्रत्यूषे अभ्येत्य सुश्लोकैः बोधयन्ति अनुजीविनः. श्रुतयः ऊचुः : जहि जहि जहि अजाम् अजितदोषगृभीतगुणां त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः. अगजगदोकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिद् अजया आत्मना च चरतो अनुचरेद् निगमः."
>
> (भाग.पुरा.१०।८४/८७।१२-१४).

भागवतमहापुराणके अनुसार परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी दशविध लीलाओंमें शयन-जागरण चक्रवत् आवर्तित होते स्वीकारे गये हैं. एतदर्थ महाप्रभु वल्लभाचार्यकी व्याख्या द्रष्टव्य है : "तत्र आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं भगवतः स्वरूपेण स्थितिं प्रार्थयन्ते 'जय-जय' इति... अन्यदपि प्रार्थयन्ते 'जहि अजाम्' इति. निद्रां त्यज... ननु तयैव अहम् एतावत्कालं वशे नीतः कथं हन्तुं शक्या इति चेत् तत्र आहुः 'हे अजित' इति. त्वं न केनापि जितो योगनिद्रा त्वया लीलयैव गृहीता नतु जीवइव निद्रया अभिभूतः. भगवन्निद्रा माया प्रकृतिः इति स्वरूपत्रयम् एकमेव. अतएव मार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मणा योगनिद्रा स्तुता" (सुबो.१०।८४।१४) योगनिद्रा योगमाया अथवा अविभक्त गुणत्रयी रूपा प्रकृति को मार्कण्डेय पुराण हरिके निमिलित नेत्रोंके रूपमें प्रतिपादित करना चाहते हैं.

(ब्रह्मसूत्रपर शाक्तभाष्य और वाल्लभभाष्य का तुलनात्मक विमर्श)

श्रीपञ्चाननजी कहते हैं "अस्याम् उपासनायां न्यायदर्शनप्रस्थानं प्रकृष्टो मार्गभेदः. तन्मतसिद्धं शक्तितत्त्वं सप्तशतीभाष्ये विवृतम् अस्माभिः अदृष्टसमष्टिसहितः परमात्मैव तत्स्वरूपम् इति. अदृष्टसमष्टिरचितपरमात्मा च (निर्विशेष)चिदिति (सविशेष)चिदचिदुभयरूपतया शक्तिपरिचयः तत्रापि. उक्तञ्च अदृष्टस्वरूपबोधनाय श्रीमदुदयनाचार्यचरणैः 'इति एषा(अदृष्टरूपा) सहकारिशक्तिः, असमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधभयतो अविद्या, इति यस्य उदिता' इति. तथाच प्रकृतिपुरुषरूपा शक्तिः इति फलितम्" (ब्र.सू.श.भा.मुखप्रबन्ध १). यहां, परन्तु, यह उल्लेखनीय हो जाता है कि न्यायमतमें शक्तिको स्वतन्त्र पदार्थ तो माना ही नहीं गया है. अतएव शक्तिकी परिभाषा भी "कारणनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्मविशेषः" (तर्कसंग्रहदीपिका) ऐसी स्वीकारी गयी है. अतः शक्ति यदि धर्मरूप हो तो शक्तिमान् धर्मी तो अर्थापत्त्या सिद्ध होगा. और वह शैव वेदान्तमें शिवरूप परब्रह्म, तो वैष्णव वेदान्तमें विष्णुरूप परब्रह्म होगा. न्यायमतमें तो परमेश्वरकी अदृष्टरूपा सहकारिणी शक्ति कारणके बारेमें अन्यान्य प्रस्थानोंकी केवल एकवाक्यता दरसानेको ही श्रीउदयनाचार्यने "इत्येषा सहकारिशक्तिः... यस्य उदिता, देवो असौ" (न्या.कु.स्तब.१) के रूपमें उसे प्रतिपादित किया है. ऐसा इसकी 'प्रकाश'नामिका व्याख्यामें श्रीवर्धमान कहते हैं "'प्रपञ्चो'=गोघटादि कार्यजातं तस्य 'रचना'=निर्माणं तत्प्रति यः 'कल्लोलः'=सांख्यादिमतप्रवादः सएव कोलाहलो... यस्मिन् 'विरतः'=शान्तो=द्वेषादिरहितः. तथाच अदृष्टसहकृतः ईश्वरएव प्रपञ्चकारणं, नतु माया प्रकृतिः अविद्या वा इति अर्थः" (न्या.कु.प्रका.१।२०) अर्थात् इस परमेश्वरकी असमा सहकारिशक्तिका दुरुन्नेय होना, मूलकारण होना; और, तत्त्वज्ञाननाश्य होना तो श्रीउदयनाचार्यको सिद्धान्तया अभिमत है. परन्तु इस असमा शक्तिका माया प्रकृति या अविद्या होना तो परमतकी ही कथा है. श्रीपञ्चाननजी, परन्तु, शक्तिको इसी मुखप्रबन्धमें पुरुषप्रकृतिरूपा शक्तिके रूपमें स्वीकार करके द्वैतघटित चिदचिद्रूप जगत्में अनुगत ब्राह्मिकी सत्ताका अद्वैत प्रतिपादन करना चाहते हैं. इस तरह द्वैताद्वैतसिद्धान्त न्यायवेदान्तके संवादतया पुरस्कृत करना चाहते हैं. परन्तु निर्विशेष चित्को अदृष्टशक्तियुक्त माना नहीं जा सकता. अतः सविशेष चित्के भागमें ही वह अवस्था आयेगी. शक्ति-शक्तिमान्के भेदके सिद्धान्तके अनुरोधवश भी तब सत्तासामान्यके अभेदके बावजूद प्रकृतिको तो अचित् ही मानना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें आद्या शक्तिरूपा देवी भी कहीं अचेतन तो सिद्ध नहीं हो रही! यह विचारणीय विषय लगता है.अस्तु.

जैसा कि आलेखके उपक्रमें निरूपित किया गया कि ऋग्वेदमें जो एक गंभीर प्रश्न उपस्थापित किया गया कि "किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" (ऋक्संहि.१०।८१।४) उस प्रश्नके समाधानतया कृष्णयजुर्वेदका कथन कि "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७७). तदनुसार संक्षेपमें सभी कुछ ब्रह्म है ऐसी अवधारणा ब्रह्मवाद है. वह सृष्टिमें अवभासित होते परस्पर अनन्त विरुद्ध धर्मोंका एक अविरोधी आश्रय है(स्वरूपलक्षण) और वही

सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण (कार्यलक्षण) भी बनता है.

यों ब्रह्मवाद, विरुद्धधर्माश्रयतावाद तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद का प्रतिपादन वाल्लभ भाष्यके अनुसार त्रिसूत्रीमें किया गया है. क्योंकि "जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्" दो सूत्र नहीं पर दोनों मिल कर एक द्वितीय सूत्रके रूपमें वाल्लभ भाष्यमें माने गये हैं. इसकी सरूपाद्वैतानुरोधिनी नूतन व्याख्या शाक्तभाष्यकार "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा. जन्माद्यस्य यतः. शास्त्रयोनित्वात्... तत्तु समन्वयात्" यों चतुःसूत्रीद्वारा प्रस्तुत करते हैं.

वाल्लभ भाष्यमें जिज्ञासाधिकरणरूप प्रथम सूत्रमें विषयरूप प्रथम अधिकरणांग ब्रह्मत्वेन ब्रह्म न मान कर ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्तार्थत्वेन माना गया है. यह 'ब्रह्म' प्रत्यय प्रात्यक्षिक आनुमानिक नहीं प्रत्युत श्रौत माना गया है :

> "इदम् अत्र विचार्यते वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो न वा इति... नहि स्वबुद्धचा वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारं कर्तुं शक्यो, ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्... 'नैषा तर्केण मतिः आपनेया' इति श्रुतेः च. नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणाद् तन्निर्धारार्थं विचारः, उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतरनिर्धारस्य अशक्यत्वाद्. अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावात् च... ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनाम् अप्रतिज्ञातत्वं, नच अवक्तव्यत्वं निर्विचिकित्सज्ञानानुदयप्रसंगाद् इति चेद्, न, 'ब्रह्मणः' इति न कर्मणि षष्ठी किन्तु शेषषष्ठी. तथाच ब्रह्मसम्बन्धि तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञातं वेदितव्यम्. नच गौणतापत्तिः अजिज्ञास्यत्वं वा स्याद् इति वाच्यं, ब्रह्ममात्रे सन्देहाभावात् सन्दिग्धस्यैव जिज्ञास्यता. गौणत्वन्तु शब्दतएव न अर्थतः."
>
> (वाल्लभ भाष्य१।१।१)

करीब-करीब इस प्रतिपादनरीति जैसी ही रीति शाक्त भाष्यमें भी अपनायी गयी है :

> "वादिवैमत्यदुर्ग्रह-श्रुतिस्मृतितात्पर्य-व्याख्यान-फलस्वरूपहेतुप्रतिपादन-विरुद्धवादपरिहार-विचाररूपस्य निरूपणस्य शास्त्रस्य वा न श्रुत्यादिभिः अन्यथासिद्धत्वम्... 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेः उपनिषद्गम्यत्वप्रतिपादनात्. कीदृशार्थे उपनिषद्वाक्यानां तात्पर्यं, कीदृशश्च औपनिषदो बोधः, कया सामग्र्या स जन्यते, किञ्च तत् फलम् इति एतत्सर्वावधारणाय स्वमतस्थापकं विरुद्धमतखण्डकं च यद्वाक्यं तस्यैव अत्र निरूपणपदार्थत्वात् शास्त्रत्वाद् वा. तस्माद् निर्णयपरसूत्रम् इदम् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति."
>
> (शाक्त भाष्य१।१।१)

वाल्लभ भाष्यके अनुसार द्वितीय सूत्रमें स्वसम्बन्धि प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपतया चतुर्धा जिज्ञास्य विषयमें अर्थतः प्रमुख ब्रह्मके लक्षण एवं प्रमाण के निर्धारणार्थ "जन्माद्यस्य यतः(लक्षण) शास्त्रयोनित्वात्(प्रमाण)" प्रस्तुत हुवे हैं. इस सूत्रमें प्रथम अधिकरणांग विषयवाक्यतया "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" वचनके बजाय "तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" श्रुतिवचनको विषयवाक्यतया द्वितीय वर्णकमें विवक्षिततर माना गया है. तदनुसार लक्षण-प्रमाणके आधारपर ब्रह्मकी जगत्कर्तृताका प्रतिपादन शास्त्रप्रामाण्यके बलपर निर्धारित किया गया है :

"तत्र किंलक्षणकं किम्प्रमाणकम् इति जिज्ञासायाम् आह सूत्रकारः 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्' इति... वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं... नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः 'सत्यज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव, नतु अलौकिके कर्तृत्वे. अतएव 'अस्य' इति आह... पुरोवर्ती प्रपञ्चः इदमा निर्दिश्यते. अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्तब्रह्माण्ड-कोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य अनायासेन उत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं न लौकिकम्. प्रतीतं च निषेध्यं न अप्रतीतं श्र श्रुतिप्रतीतम्. सत्यत्वादयः च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्... अथवा किम् अनया कुसृष्ट्या जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः इति 'तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्येव विचार्यते."

(वाल्लभ भाष्य१।१।२)

यों वाल्लभ भाष्य ब्रह्मजिज्ञासाके विषयरूप ब्रह्मके लक्षणतया इस "जन्माद्यस्य यतः" सूत्रमें "यतो वा इमानि भूतानि... तद् ब्रह्म" श्रुतिवचनको प्रस्तुत अधिकरणमें विषयवाक्यतया प्रथम वर्णकमें स्वीकार करके भी द्वितीय वर्णकमें तो "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" श्रुतिवचन ही प्रस्तुत कर "जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः" व्याख्या करते हैं. वैसे ही शाक्त भाष्यमें तो वर्णकभेदके बिना दोनोंमेंसे किसी भी एक वचनको विषयवाक्य बनाये बिना सीधे 'आद्यस्य' पद स्वीकारा गया है :

"ततश्च अस्य लक्षणसूत्रस्य अवयवभूतानि त्रीणि पदानि [१]"जन्म' [२]"आद्यस्य' [३]"यतः' इति समासरहितानि. आद्यो हि ब्रह्मा देवेषु आदौ उत्पन्नत्वात्... तस्माद् आद्यो ब्रह्मा सर्गादिजातत्वात् तस्य यतो यस्याः शक्तेः जन्म तद् ब्रह्म."

(शाक्त भाष्य१।१।२)

एतदर्थ जो युक्ति दी है वह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मका सृष्टिकर्तृत्व प्राणि-अप्राणि चिदचिदुभयकर्तृत्वरूप है जबकि उल्लिखित श्रुतिमें केवल "इमानि भूतानि" पदावलीके प्रयोगके कारण उभयकर्तृत्वरूप साधारण लक्षण प्रकट नहीं हो पाता है. और आद्यसृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा जिसमेंसे प्रकट हुवा कहनेसे शक्त्याख्य ब्रह्मका सर्वोपादानत्व सिद्ध हो जाता है.

शांकर मतकी तर्जपर श्रीपञ्चाननजी ब्रह्मको निर्विशेष और सविशेष उभयविध (विरुद्धधर्माश्रय) मान कर निर्विशेषको अपरिच्छिन्न और सविशेषको परिच्छिन्न मानते हैं. अन्तर इतना है कि केवलाद्वैतवादमें निर्विशेष पारमार्थिक और सविशेष अपारमार्थिक माने गये हैं. जबकि सरूपाद्वैतवादमें दोनों ही पारमार्थिक हैं "नापि चिन्मात्रं जननापादानं निर्विकारत्वात्. नच विवर्ताधिष्ठानस्य अपादानत्वं, "रज्जोः सर्पः उत्पद्यते" इति हि न प्रयोगो, "रज्जौ सर्पः" इत्येव प्रयोगात्. श्रुतिश्च 'यतः' इत्यनेन पञ्चम्या अपादानत्वं दर्शयति" (शाक्त भाष्य १।१।२).

इस अपादानरूपा कारणताको उपादानरूप कारणता मानना या नहीं ? क्योंकि "ध्रुवम् अपाये अपादानम्"-"जनिकर्तुः प्रकृतिः"-"भुवः प्रभवः" (पाणि.सू.१।४।२४,३०,३१) इन 'अपादान'संज्ञाविधायक सूत्रोंके अवलोकन करनेपर अपादानता कहीं "परसमवेतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व" (न्यायको.) रूपा जैसे "अश्वाद् भटः पतति" उदाहरणमें भेदसाधिका हो सकती है, वैसे ही "वृक्षात् पर्णं पतति" के उदाहरणमें विकृतपरिणाम्युपादानरूपा अभेदपूर्विका भेदघटिता भी हो सकती है. "सुवर्णात् कुण्डलं निर्माति"/"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षराद् विविधाः, सोम्य!, भावाः प्रजायन्ते तत्रचैव अपियन्ति" (मुण्ड.उप.२।१) के उदाहरणोंमें उपादानोपादेयतादात्म्यरूपा

अभेदघटिता भी वह हो ही सकती है. इनमेंसे इस तारतम्यके बावजूद निर्विशेषसविशेषसाधारण (नैयायिकोंके मतकी तर्जपर) एक सामान्यसत्तास्वरूप अभेद जो स्वीकारा है, वह तो ठीक है. पर स्वयंस्वीकृतिके आधारपर निर्विशेष चिदंशको तो चिदचिदुभयात्मिका शक्तिरूप विशेषसे विशिष्ट माना नहीं जा सकेगा. अतः अगतिकतया सविशेष चिदंशको ही चिदचिदुभयात्मिका शक्तिसे विशिष्ट मानना पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें आद्या शक्तिकी चिद्रूपता स्वाभाविक न हो कर सांसर्गिक ही होगी. और उसे ब्रह्मतया बिरदानेपर औपनिषद ब्रह्मके बारेमें "नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम् एकः" (कठोप.२।२।१३) श्रुतिवचनमें निरूपित माहात्म्य देवीके साथ कैसे संगत हो पायेगा? यह विचारणीय लगता है. यों यह भेदाभेदवादकी स्वीकृतिमें पर्यवसित होती प्रक्रिया नैयायिक-वैशेषिक मताभिप्रेत अभेदसहिष्णु भेदवादकी सिद्ध होती है. जबकि वाल्लभ वेदान्तमें ऐच्छिकभेदसहिष्णु अभेदवाद स्वीकारा गया है. "तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय", "सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो.उप.६।२।३, तैत्ति.उप.३।६) श्रुतिवचनोमें निरूपित एकमेवाद्वितीय तत्त्वके अनेकभावापन्न होनेकी इच्छासे प्रयुक्त भेदका सहिष्णु स्वाभाविक अद्वैतका यह सिद्धान्त है. अतः वाल्लभवेदान्ताभिमत भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य न हो कर अभेदसहिष्णु भेद ही शाक्तभाष्याभिमत सिद्धान्त सुनिश्चित होता है.

इस अभेदसहिष्णु भेदके अन्तर्गत आता अभेद भ्रमारोपित नहीं है, जैसाकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच होता है. और बाधितार्थका आहार्यबोध भी नहीं है, जैसाकि "यः चौरः स स्थाणुः"में बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन आरोपित अभेद होता है. न "राहोः शिरः"न्यायेन विवक्षारोपित अभेद है. इसे तो वास्तविक माननेके कारण या तो यह 'वृक्ष-वन'/'तन्तु-पट'न्यायेन समुदाय-एकत्वकी विवक्षारूप उपाधिद्वारा अवभासित होता अनारोपित एकत्व या अभेद मानना पड़ेगा. जैसे अनित्य पटों या वृक्षों में पटत्वसामान्यरूप या वृक्षत्वसामान्यरूप नित्य एकवद्भाव होता है. क्योंकि तन्तुसमुदाय अनित्य कारणरूप होता है, पट अनित्य कार्यरूप होता है और पटत्व नित्य जातिरूप माना गया है.

वैसे ही आद्यशक्तिरूपा देवीके नित्या होनेके कारण और साथ ही साथ निर्विशेष चित् तत्त्वकी धर्मरूपा भी होनेके कारण उसे चिदात्मिका या अचिदात्मिका मानना? यह प्रश्न भी जो उभरा उसका विमर्श अगले समन्वयाधिकरणमें होगा.

क्योंकि शाक्त भाष्यमें 'शास्त्रयोनित्वात्' पृथक् अधिकरण है. अतः शास्त्रयोनिताके निरूपणमें आद्यशक्तिका ऋग्वेदादि शास्त्रोंकी रचयित्री होना प्रतिपादित हुवा है. यहां शास्त्रप्रमाणकताको अविवक्षित माना गया है "शास्त्रयोनित्वस्य शास्त्रप्रमाणकत्वाद् इतितु न अर्थः 'शास्त्राद्' इत्यनेनैव सिद्धो 'योनि'त्वांशप्रवेशस्य वैयर्थ्यात्" (शाक्त भाष्य १।१।३). फिरभी ब्रह्म और शास्त्र के बीच प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध दिखला कर ऐसे ब्रह्मको लक्षणतः स्वरूपतः प्रमाणतः और फलतः चतुर्धा अभिप्रेत मान कर द्वितीय सूत्रको ब्रह्मलक्षणनिरूपक तो मानते ही हैं (द्रष्ट.शाक्त भाष्य १।१।१). यह दोनों भाष्योंके बीच व्याख्याभेदके बावजूद रहा एक उभयसाधारण अभ्युपगम है.

वाल्लभ भाष्यके अनुसार तृतीय सूत्रमें जगत्समवायिता प्रतिपाद्य मानी गयी है :

> "निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् मतान्तरनिराकरणत्वेन अग्रे वक्ष्यते. 'तद्'=ब्रह्मैव समवायिकारणम्. कुतः? 'समन्वयात्'=सम्यग् अनुवृत्तत्वात्. अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेण अन्वयात्. नामरूपयोः कार्यरूपत्वात्. प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्. अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे, ज्ञानेन बाधदर्शनात्. नानात्वन्तु ऐच्छिकमेव,

जड़जीवान्तर्यामिषु एकैकांशप्राकट्यात्... तस्माद् ब्रह्मणएव समवायित्वम्. एतत् सर्वं श्रुतिरेव आह 'स आत्मानं स्वयम् अकुरुत'(तैत्ति.उप.२।७) इति. निमित्तन्तु स्पष्टमेव सर्ववादिसंमतम्."

(वाल्लभ भाष्य १।१।३).

यों दोनों सूत्रोंकी पारस्परिक संगतिके आधारपर ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता यहां सिद्धान्तित हुयी है. श्रुत्यर्थमीमांसार्थ समायोजित गोष्ठीमें न तो कोई अब्रह्मवादी विचारक उपस्थित हो सकता है और ब्रह्मको न निमित्तकारण और न विवर्तोपादानकारण या परिणाम्युपादानकारण दोनोंमें कुछ न माने ऐसा भी कोई वेदान्तव्याख्याता हो सकता है. अतः ब्रह्मकी निमित्तकारणता सर्ववादिसंमत है और उपादानकारणता इस अधिकरणमें प्रतिपाद्य है. यहां यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि "तत्तु समन्वयात्" सूत्रमें जिज्ञास्य ब्रह्मकी जगत्कारणताके बारेमें सभी श्रुतियोंका समन्वित प्रामाण्य है ऐसा अभिप्राय मान्य नहीं है. क्योंकि वह तो सारे समन्वयाध्यायके विमर्शके बाद ही सिद्ध हो पानेवाले हेतु है. अतः शास्त्रारम्भमें तो उसे सिद्धवत् प्रस्तुत किया नहीं जा सकता. अतएव भाष्यकार कहते हैं "वेदान्तवाक्यानाम् अस्मिन् शास्त्रे समन्वयएव प्रतिपाद्यते सन्देहनिराकरणद्वारा. तत् कथं सिद्धवद्धेतुत्वेन निर्देशः ? अग्रिमवैयर्थ्यं च..." (वाल्लभ भाष्य १।१।३).

शाक्त भाष्यमें भी इसी तरह 'समन्वय'पदका अर्थ वाचनिक समन्वयके अभिप्रायावश न मान कर जिज्ञास्यभूत जगत्कारणरूप ब्रह्म सृष्टिरूप कार्यमें समन्वित रहता है ऐसे ही अभिप्रायवश स्वीकारा गया है "'तत्'=आद्यजन्मापादानत्वम्... 'समन्वयात्'=सम्यङ् नित्यो अन्वयः सम्बन्धो मेलनं चिदचितोः सम्बन्धः इति यावत्. तस्माद् नित्यसम्बन्धचिदचिदुभयात्मिका हि शक्तिः आद्यस्य(ब्रह्मणः) जनयित्री इति भावः" (शाक्त भाष्य १।१।४). इस आद्यजन्मापादानत्वकी अवधारणाको स्पष्ट करनेको सर्वप्रथम पांच सम्भावित विकल्प पुरःस्थापित करते हैं : श्रुतिमें प्रयुक्त 'ब्रह्मयोनि' पदका अर्थ क्या [१]अचिन्मात्र लेना या [२]चिन्मात्र, या [३]निःसम्बन्ध चिदचिदुभय, या [४]अनित्यसम्बन्ध चिदचिदुभय अथवा [५]नित्यसम्बन्ध चिदचिदुभय लेना ?

तर्करत्न श्रीपञ्चानन भट्टाचार्यजी इन पांचोंमेंसे किसी भी कल्पको त्याज्य या अस्वीकार्य नहीं मानते हैं. अपने पाण्डित्यकौशल्यसे सभी कल्पोंको उपपन्न सिद्ध करते हैं. फिरभी उपक्रमप्रतिज्ञात नित्यसंबद्धचिदचिदुभयशक्तिके कल्पपर स्वीकृतिभार अधिक है. इसमें आधारभूत हेतु सत्तापदार्थकी उपनिषदुक्त अवधारणा एवं न्यायवैशेषिकाभिप्रेत अवधारणा के संवादार्थ प्रदर्शित प्रकिया विशेषतः अवधेय है :

"तस्य ज्ञानबलक्रियात्मिका या एका शक्तिः सा स्वाभाविकी ब्रह्मस्वरूपा इति एतदर्थकत्वात्. 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिवद् वा तन्निर्देशात्. अन्यथा जननापादानत्वस्य सगुणव्याप्यतया निर्गुणश्रुतिः, संगव्याप्यतया निःसंगत्वश्रुतिः च व्याकुप्येतां, ब्रह्मणि जननापादानतायाः श्रुतिसिद्धत्वात्. नापि विवर्ताधिष्ठानस्य जननापादानत्वं... नच चिदचिदुभयस्य सगुणत्वव्याप्यजननापादानत्वस्य तत्रापि असम्भवः इति वाच्यं, वृक्षादौ कपिसंयोगितदभावादिवद् अवच्छेदकभेदेन सगुणत्व-निर्गुणत्वयोः तत्र सत्त्वेन जननापादानतायां सगुणत्वव्याप्यस्य अस्मन्मते बाधविरहाद् ब्रह्मणि चिदचिदुभयत्वावच्छेदेन चित्त्वावच्छेदेन वा निर्गुणत्वसत्त्वेऽपि अचित्त्वावच्छेदेन तत्र सगुणत्वस्य सत्त्वात्. एतेन संग-निःसंगत्वे च व्याख्याते."

(शाक्त भाष्य १।१।४).

सर्वप्रथम इस शाक्तवेदान्तकी इस नूतन उद्भावनामें शक्ति और शक्तिमान् के बीच ब्रह्मत्व शक्तित्वावच्छेदेन है या शक्तिमत्त्वावच्छेदेन इस विकट समस्याका समाधान भट्टाचार्यजी "पुरुषस्य चैतन्यं"न्यायेन विवक्षोपाधिक आरोपित द्वैतका अवलम्बन करके करते हैं. पश्चात् चिदचिदुभयात्मकताके अन्तर्गत अवच्छेदभेदवशात् चिदचित्प्रभेदको

भी अनारोपित तथा अनवच्छिन्न तत्त्वैक्यका भी अवलम्बन कर, सम्भवत: "विशिष्ट: शुद्धाद् न अतिरिच्यते" न्यायेन विभिन्न अवच्छेदकविशिष्टके अवच्छेदकावच्छिन्नोंके विभेद होनेपर भी अनवच्छिन्न तत्त्वके ऐक्यको भी परिभाषित कर रहे हैं. यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि एतदर्थ भट्टाचार्यजीको सत्तासामान्यकी अवधारणाके अवलम्बनकी अपेक्षा यद्यपि नहीं है फिरभी अनेकानेक उपनिषदोंमें प्रतिपादित "एकमेव अद्वितीयम्","एकमेव तद् एकं सद् न व्यभवत्" (छान्दो.उप. ६।२।१, बृह.उप.१।४।११) सदृश वचनोंमें प्रतिपादित होते एकत्वको भी अंगीकार करते हैं. केवलत्व और अद्वितीयत्व को एकार्थवाची मान कर दोनों पदोंके पृथक् अर्थकृत्य माने बिना "स्वसत्ताव्यापकसत्तासम्बन्धेन वस्त्वभावत्वलक्षणक"(तत्रैव) अर्थात् ब्रह्मेतर कोई भी वस्तु ब्राह्मिकी सत्तासे व्याप्त ही होती है व्यापक नहीं, सो ऐसी ब्रह्मसत्तासे व्यापकसत्तारहित होनेके अर्थमें ब्रह्मेतर वस्तुमात्रका अभाव होनेके कारण एक नूतन उद्भावना ब्रह्मकैवल्यकी यहां प्रस्तुत हुयी है. इस श्रुत्युक्त केवलत्वकी नित्यसम्बद्धचिदचिदुभयात्मक ब्रह्मके संगतिकी उपपत्ति भट्टाचार्यजी "सत्ताविशेषवद्वृत्तिभेदाप्रतियोगी एकत्वम्" (तत्रैव) कह कर प्रदर्शित करते हैं. इस 'सत्ताविशेष'का स्पष्टीकरण देते हुवे सत्ता पदार्थ द्विविध माना गया है : १.अनित्यसत्ता २.नित्यसत्ता. घटपटादिमें पायी जाती सत्ता अनित्य तथा असंख्यात होती हैं सत्ताश्रयोंकी असंख्यताके कारण. नित्यसत्ताके तीन प्रभेद होते हैं : १.अपरिणामिनी २.समपरिणामिनी ३.एक कार्यके अनुकूल होनेपर भी विषमपरिणामद्वारा उपलक्षित. इनमें अपरिणामिनी सत्ता चिन्मात्रवृत्ति होती है. समपरिणामिनी सत्ता अचिन्मात्रवृत्ति होती है. तीसरी चिदचिदुभयवृत्ति होती है. विषमपरिणामविशिष्टमें पर्यवसित होनेवाली विषमपरिणामिनी सत्ता नित्य नहीं होती. क्योंकि प्रलयदशामें ऐसी सत्ताका अभाव रहता है. 'सत्ता'पदका अर्थ होता है कालके साथ सम्बन्ध. यह काल अचिद्रूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके रजोगुणका अंशभूत होता है. उभयात्मक ब्रह्म और पुरुष दोनोंमें कालसम्बन्धरूपा सत्ता नित्या ही होती है. केवल प्रकृतिकी सत्ता नित्य भी होती है और अनित्य भी. प्रकृति जब विषमपरिणामविशिष्ट सत्तावाले कार्य प्रकट करती है तब वह अनित्य क्योंकि ऐसे परिणाम प्रलयकालमें शेष नहीं रह जाते. अतएव उन्हें अनित्य माना जाता है. महदादि स्थूलान्त कार्योंकी सत्ता नित्य नहीं होती. क्योंकि जब ये कार्य अपने कारणोंमें पुनर्लीन हो जाते हैं तब कारणसत्ताकी दृष्टिसे ही उन्हें 'सत्' माना जाता है. भट्टाचार्यजी यह भी स्वीकारते हैं कि सम्बन्ध और सम्बन्धी भिन्नतया कहे जाते होनेपर भी सम्बन्धीसे भिन्न नहीं होते, जैसे स्वरूपसम्बन्ध या घटभेदाभाव घटत्वतुल्य नैयायिकोंके मतमें माना गया है (द्रष्ट.शाक्त भाष्य १।१।४).

अन्तमें भट्टाचार्यजीका यह भी खुलासा दिया है कि चिदचिदुभयवृत्ति नित्या सत्ता, जो सर्वविधसत्ताकी व्यापकरूपा सत्ता है, उसे चिन्मात्रवृत्ति और अचिन्मात्रवृत्ति सत्ताओंसे व्यापक माननेमें कोई आपत्ति उठ नहीं सकती. क्योंकि वैसे तो कुंभारके बनाये घड़ेका कर्तृत्व कुंभारमें रहता है फिरभी सर्वकर्ता ईश्वरमें भी घटकर्तृत्व भी स्वीकारना ही पड़ता है; अथवा, कपालोपादानक घटको मृदुपादानक भी मानना पड़ता है. ठीक इसी तरह महदादि प्राकृत पदार्थोपादानक जगत्को भी ब्रह्मोपादानक मानना आवश्यक है. इस तरह देखा जा सकता है कि प्रक्रियाभेदके समाश्रयणद्वारा भी शाक्तवेदान्त भी "तत्तु समन्वयात्" सूत्रमें वाल्लभवेदान्तकी ही तरह ब्राह्मिकी सत्ताको वस्तुमात्र समनुगत स्वीकारता है परिणामवादी और आरभ्मवादी उभयविध कारणप्रक्रियाके समन्वयद्वारा.

अत: शाक्तवेदान्तमें भी [१]ब्रह्मवाद तो निश्चिततया अभ्युपगत है. इसी तरह [२]विरुद्धधर्माश्रयतावाद भी "सर्वेषां धर्माणां विरुद्धानाम् अविरुद्धानां च चिदचिदात्मकब्रह्मणि उपपत्ते:"(शाक्तभाष्य २।१।२७) कण्ठोक्तिस्वीकृत है. [३]अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद भी "या खलु शक्ति: अस्मत्सिद्धान्ते 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा' इति वा 'परमेश्वर' इति वा संज्ञायते सा न केवलं पुरुष: किन्तर्हि 'प्रकृतिश्च'=प्रकृतिरपि अनुपादानकत्वे सति उपादानभूतापि", "तस्माद् ब्रह्मणि

अचिदवच्छेदेन परिणामः, चिदवच्छेदेन अपरिणामित्वेपि चिदचिदुभयत्वसामानाधिकरण्येन परिणामित्वं कर्तृत्वं कारणान्तरत्वं च न अनुपपन्नम्" (शाक्तभाष्य १।४।२३) कण्ठोक्त स्वीकृतिवश निर्विवाद मान्य है. इसी तरह [४]सत्कारणतावाद और [५]सत्कार्यतावाद भी शाक्तभाष्यको स्वीकार्य है यह "'सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्' इत्यादि तत्र असत्पक्षनिराकरणेन सदनन्यत्वावधारणार्था... तत्र 'इदं'पदार्थस्य प्रागुत्पत्तेः 'सत्'शब्दवाच्येन कारणेन अभेदबोधकसमानविभक्तिवचननिर्देशात् कार्ये कारणाभेदसिद्धिष" (वहीं २।१।१८) इत्यादि वचनोंमें सुस्पष्टतया उपलब्ध होता है. परिणामवादकी स्वीकृति और आरम्भवादकी आत्यन्तिक अस्वीकृतिके कारण (द्रष्ट.शा.भा.२।२।१७) [६]आविर्भावतिरोभाववाद तो अगतिकतया सिद्ध ही हो जाता है. [७]अविकृतपरिणामवाद शाक्तवेदान्तमें, चिदंशको अविकारी माननेके वाल्लभवेदान्तकी ही तरह अर्धजरतीयन्यायेन स्वीकार्य है. [८]कार्यकारण-अंशांशितादात्म्यवाद, अतएव, वाल्लभ वेदान्तकी ही तरह शाक्त वेदान्तमें भी माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें सच्चिदानन्दके सदंशोंमें तत्तद् नामरूपसंयोजनवशात् कार्यकारणभाव माना गया है, वही भट्टाचार्यजीका भी मत है. और चिदंशमें केवल अंशांशिभाव माना गया है. शाक्त वेदान्तमें, परन्तु, जीवात्माकी अंशरूपता स्वरूपांशरूपा न हो कर प्रतिबिम्बात्मिका मानी गयी है. भट्टाचार्यजी भी चिदंश जीवको शांकर वेदान्तकी तरह मिथ्या तो मान नहीं पायेंगे फिरभी. [९]लीलार्थ सृष्टिवाद तो "लोकस्येव जनस्येव लीलाकैवल्यं लीलायाः कैवल्यम्. 'केवला'=प्रयोजनं विनैव प्रवृत्ता 'लीला'=क्रीडाविशेषः" (वहीं २।१।३३) निजकण्ठाभ्युगत ही है.

यों शुद्धाद्वैतवादके घटक माने गये उपवादोंके निकषपर भी शाक्तवेदान्तका तुलनात्मक विमर्श करनेपर सरूपाद्वैत और शुद्धाद्वैत के बीच विलक्षण साम्य दृष्टिगोचर होता है. अन्य भी कतिपय मुद्दोंके बारेमें इसी तरह अभिमतिसाम्य है परन्तु प्रस्तुत आलेखमें अप्रसक्त होनेसे यहां उल्लेख अनावश्यक है.

(उपसंहार)

संक्षेपमें शाक्तवेदान्त वैसे तो न्यायवैशेषिक मतकी वेदान्तके साथ एकवाक्यता प्रदर्शित करनेको पुरस्कृत प्रवृत्त हुवा है, फिरभी इस नूतन अवधारणामें तादात्म्यका स्वरूप भेदसहिष्णु अभेदवादी न हो कर अभेदसहिष्णु भेदवादी है. वैसे स्वयं भट्टाचार्यजीको वेदान्तके साथ न्यायवैशेषिक मतकी संवादिता दिखानेको न्यायवैशेषिकाभिमत अणुकारणतावाद और समवायसम्बन्धवाद की बली चढ़ानी पड़ी है. फिरभी वाल्लभवेदान्तकी ही तरह शाक्तवेदान्त तादात्म्यसे पृथक् समवायसम्बन्धको मान्यता प्रदान नहीं करता. प्रकारभेदसे भट्टाचार्यजी भी न्यायमतके तादात्म्यकी अवधारणाके निर्वाहार्थ तादात्म्यका द्वैविध्य भी दरसाते हैं :

> "'शुक्लः पटः' इत्यादौ तादात्म्यसम्बन्धेन पटादौ शुक्लादेः प्रतीतिः... तथाच सर्वत्रैव अयुतसिद्धस्थले तादात्म्यमेव सम्बन्धो अस्तु किम् अतिरिक्तेन समवायेन?... भेदाभेदरूपत्वेन अभेदरूपत्वेन च तादात्म्यस्य द्वैविध्ये वृत्तिनियामकत्व-तदभावयोः उपपत्तेः यत्र भेदाभेदरूपं तादात्म्यं यथा रूपस्य घटे... भेदाभेदात्मकं तादात्म्यं तत्र वृत्तिनियामकं... स्वस्मिन् स्वस्य च कथमपि भेदाभावाद् अभेदएव तादात्म्यं यथा घटस्य घटे तत्र वृत्त्यनियाकम्".
>
> (शाक्तभाष्य २।२।१५)

एतावता तादात्म्यका अंगीकार और उसके निकष के पर्यालोचन करनेसे शुद्धाद्वैतवादके घटक उपवादोंके अभिप्रायवश इसे वैष्णव शुद्धाद्वैतवादका ही एक अभिनव शाक्त संस्करणके रूपमें मान्य करना उचित लगता है.

ब्रह्मशक्त्या हि ब्रह्मात्मनामरूपविमोहितः ॥
कृष्णनामरूपभक्तावनिरुद्धोऽप्यमूढधीः ॥१॥

कृष्णास्यकृपयाविष्टो जिज्ञासाशेषभावतः॥
ब्रह्मशक्त्योर्हि मीमांसाऽऽलेखनं कृतवानहम्॥२॥
यश्चैको निरुपाधिको बहुविधैर्नामादिभेदैः स्वयं॥
चाविर्भूय प्रकाशते हि बहुधा स्वीये चिदंशे पृथक्॥
पार्थक्यं नच तद् भवेदिह परं चात्यन्तिकी भिन्नता॥
नाप्यैक्यं तदनेकताविरहितं तादात्म्यमेवं विदुः॥३॥
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं प्रोक्तं यद् ब्रह्मणः श्रुतौ॥
श्रुतिगम्यं तदेकं वै सर्वदा शरणं मम॥४॥

सन्दर्भसंक्षेपविवरण

१.बृह.उप.- बृहदारण्यकोपनिषद्
२.ब्र.सू.शां.भा.- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
३.ईश.उप.श.भा.- ईशावास्योपनिषद् शक्तिभाष्य
४.भाग.सुबो./सुबो.- भागवत सुबोधिनी
५.भाव.प्रका.- भावप्रकाशिका
६.भास्क.भा.- भास्करभाष्य
७.तैत्ति.उप.- तैत्तिरीयोपनिषद्
८.ऋक्संहि.- ऋक्संहिता
९.तैत्ति.ब्राह्म.- तैत्तिरीय ब्राह्मण
१०.छान्दो.उप.- छान्दोग्योपनिषद्
११.त.दी.नि.- तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
१२.महाना.उप.- महानारायणोपनिषद्
१३.कठोप.- कठोपनिषद्
१४.मुण्ड.उप.- मुण्डकोपनिषद्
१५.दु.स.श.- दुर्गासप्तशती
१६.मुद्ग.उप.- मुद्गलोपनिषद्
१७.ब्र.सू.- ब्रह्मसूत्र
१८.न्या.कु.स्तब.- न्यायकुसुमाञ्जलि स्तबक
१९.न्या.कु.प्रका.- न्यायकुसुमाञजलिप्रकाश
२०.भाग.पुरा.- भागवतपुराण
२१.पाणि.सू.- पाणिनिसूत्र
२२.न्यायको.- न्यायकोश

गोस्वामी श्याम मनोहर ६३, स्वस्तिक सोसायटी, ४,था रस्ता, जुहुस्कीम, पार्ले(पश्चिम), मुंबई. ४०० ०५६.